Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 4 | ISSN : 2582-0095

# महाभारत में वर्णित राजधर्म की समकालीन समाज में उपादेयता

**अमरजीत पाण्डेय'**
**'शोधार्थी, संस्कृत विभाग,**
**का0सु0 साकेत पी0जी0 कालेज, अयोध्या।**

शोध आलेख सार – लोकत्रन्त्रात्मक व्यवस्था में शासन का स्वरूप विकेन्द्रित है। कभी–कभी यह केन्द्रित व्यवस्था की ओर भी अग्रे ित दिखता है। इस शासन में वोट की राजनीति करने वाले इसे संख्या वाद पर तौलते है। इस व्यवस्था के मूल तत्व को ही भूल जाते है आज जनहित के कार्य हो या न हो अपने हित के कार्य को महत्व दिया जाता है। इसलिए आज शान्तिपर्व के राजधर्म के अनुपालन की अत्यधिक आवश्यकता है।

मुख्य शब्द– लोकत्रन्त्रात्मक, राजनीति, शान्तिपर्व, राजधर्म, महाभारत।

सम्पूर्ण विश्व में भारतीय चिन्तन की अद्वितीय महत्ता स्वीकार्य है, न केवल धार्मिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ही अपितु राजनीतिक चिन्तन में भी भारतीय मनीषियों का योगदान अतुलनीय रहा है। भारतीय मनीषियों ने राजनीति के सम्बन्ध में गहन मनन–चिन्तन किया है, इन चिन्तकों ने राज्य के उद्देश्य, शासक के कर्तव्य लोक–कल्याण एवं राज्य की रक्षा, न्याय–विधि, विदेश–नीति के निर्धारण एवं विश्व–शान्ति आदि के सम्बन्ध में जो विचार दिये हैं, वह आज भी एक बड़ी सीमा तक उपादेय एवं सार्थक है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में विचार करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक मंत्र संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के कतिपय सन्दर्भित संकेतों के विवेचन से हमें ऋषियों के राजनीतिक दर्शन का परिज्ञान प्राप्त होता है, वेदांगों में प्रतिबन्धित राजनीतिक व्यवस्थायें उत्तम शासन संस्था एवं शासन पद्धति का अवबोध कराती हैं। कल्पसूत्र एवं गृह्म सूत्र विधायें, तो राज्य शासन एवं समाज के संचालन की संवैधानिक व्यवस्था ही प्रस्तुत करती हैं वास्तव में, धर्मसूत्र विधि संहिता की भांति राजनीतिक व्यवस्था करते हैं।

वैदिक साहित्य के पश्चात् लौकिक साहित्यों में अनेक काव्य विधाओं के अन्तर्गत राजनीतिक चिन्तन प्रस्तुत किये गये है जिनके विश्लेषण से तत्कालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का सम्यक् रूप से परिचय

प्राप्त किया जा सकता है इसी कड़ी में आर्षकाव्य परम्परा का वृहत् काव्य **महाभारत** है जिसके रचनाकार कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास जी हैं इस अद्वितीय काव्य में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक मूल्यों के अलावा राजनैतिक मूल्यों एवं मानको का ऐसा समावेश है जो आज भी राजनीतिक चिन्तकों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता है साथ ही राज व्यवस्थाकारों को आज भी दिशा प्रदान करता है।

सम्पूर्ण जगत में प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं सामाजिक क्षेत्र से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर चिंतन किया है, इन भारतीय विचारकों के विचार सहस्र वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक पथ–प्रदर्शक की भूमिका में हैं। इन्हीं प्राचीन भारतीय चिन्तकों में कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास कृति 'महाभारत' ग्रंथ अद्वितीय है। यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं राज दर्शन के विश्वकोष के रूप में पूर्णतः समादृति है। अतः इसे 'पंचम वेद' की संज्ञा प्राप्त है।

मानव जगत का सर्वोच्च अभीप्सित आध्यात्मिक क्षेत्र हो, समाज जगत व्यावहारिक व सैद्धांतिक सामाजिक क्षेत्र हो, इतिवृत पर आधारित ऐतिहासिक क्षेत्र हो अथवा जन सामान्य के प्रत्यक्ष कल्याण एवं राजाओं को उनके कर्तव्य का मार्गदर्शक राजनीतिक क्षेत्र हो, प्रजा का राज्य के प्रति और राजा का प्रजा के प्रति कर्तव्य हो, आदि सभी विषयों से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सभी सम्बन्धित तत्व समग्र 'महाभारत' ग्रंथ में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं, इस संबंध में 'महाभारत' ग्रंथ में स्पष्ट उल्लेख है कि–

**धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे न भरतर्षभ।**

**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।।**[1] **आदि0 62/53**

अर्थात् जिन–जिन विषयों का प्रतिपादन इसमें है वह अन्यत्र स्थानों पर भी है किन्तु जो इसमें प्रतिपादित नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।

'महाभारत' मानव की जय यात्रा का निनाद करता है, देश को समग्र विधाओं के ऐतिहासिक सत्य का वास्तविक निदर्शन हमें इस महाकाव्य से प्राप्त होता है, कुछ विद्वानों का यह मत है कि 'महाभारत' को न जानने पर यर्थात् भारत को नहीं जाना जा सकता है। प्रोफेसर द्वारकादास हर्ष 'महाभारत' ग्रंथ के संदर्भ में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि ''पारस्परिकता के आत्मीय विस्तार का नाम धर्म है, और पारस्परिकता के अनात्मीय संकुचन का नाम अधर्म है।''[2]

**राजधर्म का आशय–**

'राजधर्म' शब्द दो शब्दों के योग से बना है राज एवं धर्म। राजधर्म का शाब्दिक अर्थ है राजा का धर्म। राजधर्म में षष्ठी तत्पुरुष समास है जिसका अर्थ राज्ञः धर्म। 'धर्मः शब्दः इति कर्त्तव्यता वचनः' अर्थात् धर्म को हम कर्तव्य के रूप में लेते हैं। यद्यपि प्राचीन काल में आधुनिक शासन प्रणाली अर्थात् जनतंत्र का अभाव था। राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन था जिसमें शासन तंत्र की प्रधानता राजा पर ही आश्रित थी। राजा ही संप्रभुता संपन्न था तथा शासन की समस्त शक्तियां राजा में ही समाहित थी। राजा का

आदेश ही कानून होता था राज्य के अन्य पदाधिकारी राजा के सहायक की भूमिका में होते थे, अर्थात् राज्य की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की शक्तियां राजा में सन्निहित थी तथा राजा ही राज्य के तीनों अंगों का अध्यक्ष होता था। राज्य की समस्त शक्तियां राजा में सन्निहित होने के बावजूद भी इसका अर्थ यह नहीं है कि राजा निरंकुश होता था। राजा को भी धर्म शास्त्र के नियमों विनियमों के अंतर्गत राज व्यवस्था का संचालन करना पड़ता था। राजा के स्वेच्छाचारी होने पर उसे पदच्युत भी किया जा सकता था अथवा मौत के घाट उतारा जाता था। इस प्रकार राजा का पद अति उत्तरदायित्व पूर्ण होता था तथा निरंकुशता का कोई भी स्थान नहीं था। राज्य का संचालन सुव्यवस्थित संचालित हो सके इसके लिए ही धर्मशास्त्र के अंतर्गत राजधर्म को भी समाविष्ट किया गया जो कालांतर में अत्यंत महत्वपूर्ण विषय बन गया। राजधर्म के सम्यक् अनुपालन से राजा को इहलोक और परलोक दोनों लोकों के लाभों की प्राप्ति होगी ऐसी मान्यता दृढ़ होने लगी।

राजधर्म किसे कहते हैं? राजधर्म का क्या आशय है? इसका अनुपालन कब सुनिश्चित होता है? इसका प्रत्यक्ष–परोक्ष प्रतिफल क्या है? आदि विषयों के बारे में अति विस्तार से महाभारत ग्रंथ की चर्चा की गई जो समकालीन समाज में राजशास्त्र अनुवर्तकों के लिए प्रेरणा का स्रोत एवं मार्गदर्शन का सिद्धांत प्रस्तुत करती है। महाभारत के शांति पर्व के अन्तर्गत युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से जिज्ञासा की है–

**राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः।**

**महान्मेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव।।[3] शान्ति पर्व 56/2**

अर्थात् हे पितामह धर्मज्ञ विद्वानों की यह मान्यता है कि राजाओं का धर्म श्रेष्ठ है और यह राजधर्म बड़ा भार स्वरूप है अतः आप मुझे राजधर्म का उपदेश दीजिए'।

राजधर्म संपूर्ण जीव जगत का आश्रय है, राजा के धर्मो में धर्म, अर्थ और काम तीनों का समावेश है, यही नहीं संपूर्ण मोक्ष धर्म भी राजधर्म में निहित है संसार को मर्यादा के भीतर रखने के लिए प्रागः स्वरूप भी है अतः आप सबसे पहले मेरे लिये राजधर्मों को राजधर्म का ही वर्णन कीजिए

**राजधर्मान् विशेषेण कथयस्य पितामह।**

**सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्।।[4] शान्ति पर्व 56/3**

युधिष्ठिर के उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह सर्वप्रथम कहा –

**आदावेव कुरूश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया।**

**देवतानां द्विजानां वर्तितव्यं यथा विधि।।[5] शान्ति पर्व 56/12**

अर्थात् 'कुरुश्रे ठ राजा को सबसे पहले प्रजा का रञ्जन अर्थात् उसे प्रसन्न रखने की इच्छा से देवताओं और ब्राह्मणों के प्रति शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अर्थात् विधिपूर्वक पूजन एवं आदर सत्कार करना चाहिए।[5] इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ के लिए सदा प्रत्यनशील रहना चाहिए पुरूषार्थ के बिना केवल प्रारब्ध

राजाओं का प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता है।[6] यद्यपि कार्य की सिद्धि में प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये दोनों साधारण कारण माने गए हैं तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पहले से ही निश्चित है।[7] पुरुषार्थ ही राजाओं की सर्वोत्तम नीति है,[8] और सत्य के सिवा दूसरी कोई वस्तु राजाओं के लिए सिद्धकारक नहीं है।[9] यही नहीं तीन बातों, अपने छिद्र, अपनी मंत्रणा, अपने कार्य कौशल को छोड़कर सभी कार्यों में सरलता एवं कोमलता का आवश्यकतानुसार अवलंबन लेना चाहिए।[10] जैसे बसंत–ऋतु का तेजस्वी सूर्य न तो अधिक ठण्डक पहुंचाता है और न ही अधिक धूप ही करता है उसी प्रकार राजा को भी न तो बहुत कोमल होना चाहिए न अधिक कठोर।[11]

राजाओं का धर्म के साथ गर्भवती स्त्री समान होना चाहिए जैसे – गर्भवती स्त्री केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है उसी प्रकार राजा को प्रजा के हित का ध्यान रखना चाहिए ''राजस्व की रक्षा के लिए राजा को दंड देने में संकोच नहीं करना चाहिए सेवकों के साथ परिहास आदि में संयम बनाए रखना चाहिए राजा जब सबको यथा योग्य विभाग देता है, मंत्रियों का अनादर नहीं करता दुष्ट पुरुषों को मार डालता है तब उसका यह कार्य 'राजधर्म' कहलाता है''[12] राजा जब मन, वाणी, कर्म के द्वारा सबकी रक्षा करता है और पुत्र के भी अपराध को क्षमा नहीं करता दुर्बलों को आवश्यकतानुसार वस्तुऐं प्रदान करता है व्यापारियों की पुत्रवत् रक्षा करता है, मित्रों की वृद्धि, शत्रुओं का नाश साधु, पुरुषों का आदर आतिथ्य सत्कार, भूदान, प्रेमपूर्वक सत्य पालन करता है तब यह राजा का धर्म कहलाता है।[14]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि राजधर्म का वास्तविक कल्याण करना है ऐसा कल्याण जो सामाजिक सौह्रार्द आध्यात्मिक उन्नति, मानवीय प्रेम पर पूर्णतः आधारित हो।

**समकालीन समाज में राजधर्म की प्रासंगिकता –**

सुव्यवस्थित वस्तु संगठित वर्तमान के सुनिर्माण में अतीतकाल के समृद्ध पक्ष का अंश प्रबलतर तरीके से होता है अतीत पक्ष को सामान्यतः इतिहास की संज्ञा से अभिहित करते हैं यद्यपि इतिहास का विषयवस्तु सुविस्तृत व सर्वांगीण होता है तथा वर्तमान के सकारात्मक निर्माण व संरचना में सुविज्ञ व दूरदर्शी मानव सर्वथा अतीत के समुज्जवल पक्ष को ही आत्मसात् करता है, वास्तव में ऐसा करना आवश्यक भी होता है क्योंकि सकारात्मकता की स्वीकृति ही मानवता की पथ–प्रदर्शक सिद्ध होती है अतः हम कह सकते हैं कि महाभारत ग्रंथों का एक ऐतिहासिक ग्रंथ है। जिसमें विविध सांसारिक एवं आलोकित विषयों का समावेश है जिसमें सकारात्मक व नकारात्मक अथवा आदर्शनात्मक एवं व्यवहारात्मक दोनों पक्षों का प्रचुर अंशों में संकलन है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव अतीत से लेकर वर्तमान एवं भविष्य काल तक पड़ता रहेगा।

महाभारत में वर्णित 'राजधर्म' निश्चित रूप से लोक–व्यवस्था के धर्मशास्त्र का एक अभिन्न अंग है, किसी भी समाज के सम्पूर्ण परिचालन में धर्मशास्त्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है। दूसरे शब्दों में समाज के चतुर्दिक व सर्वात्रिक प्रक्रिया की धुरी धर्मशास्त्र ही है, राजधर्म में धर्मशास्त्र का अंश होने के कारण ये अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है, जिस प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना–अपना धर्म होता है उसी प्रकार लोगों का भौतिक नियंता 'राजा' या राष्ट्रपति का भी अपना धर्म होता है जिसे राजधर्म की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। राजा या राष्ट्रपति अपने अधिकार व कर्त्तव्य का यथोचित् रूप से पालन करें यह 'राजधर्म' का समोज्जवल पक्ष है, राज्य एक विस्तृत इकाई होती है अतः राजा अपनी सहायता के लिए परम–निपुण व राजभक्त सेवकों या कर्मचारियों की नियुक्ति करता है इस प्रकार सेवक आदि भी राज्य के अंग होते हैं, एवं राज्य के सुव्यवस्थापन एवं संचालन में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है ऐसे स्थिति में राजा अथवा राष्ट्रपति का धर्म बनता है कि राज कर्मचारियों आदि का चयन बड़ी निपुणता व चतुराई के साथ निष्पक्षता का आश्रय लेते हुए करे ताकि पद के अनुरूप कार्मिकों की नियुक्ति हो सके और ये कार्मिक सर्वथा राजकार्य पूर्ण मनोयोग व श्रद्धा के साथ करके प्रजा वर्ग का हित सुनिश्चित कर सके।आज की ऐसी परिस्थिति में राजधर्म पथ प्रदर्शक राजशास्त्र जैसे ग्रंथों एवं राजधर्म प्रवर्तक आचार्यों के उपदेशों की आवश्यकता होती है जो शासक आदि का पथ–प्रदर्शक व मार्गदर्शन करें।

शासन व्यवस्था का स्वरूप कुछ भी हो परन्तु शाश्वत–मूल्य, चिर–स्थायी प्रकृति के होते हैं, उनका उल्लंघन किसी भी दशा में लाभप्रद नहीं हो सकता है, अतः समकालीन समाज में भी शासक वर्ग को यह प्रयास करना चाहिए कि निर्धारित राज्यादर्श का किसी भी परिस्थिति में अतिचार, अवमानना व उल्लंघन न होने पाए। शांतिपर्व में वर्णित राजधर्म की उत्तरजीविता या समकालीन समाज में उसकी प्रासंगिकता बदलते वैश्विक परिदृश्य में कुछ अधिक ही बढ़ गई है। आज जिस प्रकार से विश्व में हिंसात्मक क्रांति, वैचारिक क्रांति, अनुशासनहीनता जन्य परिस्थिति, नैतिकता विहीन राजनीति, सामाजिक, आर्थिक असमानता जन्य समस्याओं का प्रादुर्भाव मानवीय संवेदनहीनता, आतंकवाद, संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद आदि का दौर चल रहा है, इन समस्त कुत्सित व घृणित विचार धारा का अन्त शांतिपर्व में वर्णित राजधर्म के अध्ययन द्वारा व्यावहारिक क्रियान्वयन के माध्यम से किया जा सकता है, महाभारत में वर्णित राजधर्म के श्रेष्ठ मूल्य हमारे आधुनिक राजनीतिक मूल्यों एवं संस्कारों में गुणात्मक वृद्धि एवं उत्थान के कारण सिद्ध हो सकते हैं, दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राजधर्म के श्रेष्ठ मूल्यों को अपना लेने से वर्तमान कालीन राजनीतिक सुचिता, न्याय प्रियता, जैसे अनेक मूल्यों में उत्कृष्टता का आधान कराया जा सकता हैं। महाभारत में वर्णित शान्तिपर्व का 'राजधर्म' वास्तविक रूप से आज की राज व्यवस्था को सही दिशा प्रदान कर सकता है, देशकाल परिस्थितियों के अनुसार भले ही नियम कानून बदल गये हैं लेकिन उददे्श्य आज भी वही है।

**लोक रञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः [15] शान्तिपर्व 57/115**

शान्तिपर्व में वर्णित राजधर्म का उददे्श्य भी प्रजा कल्याण से ही था और आज की शासन व्यवस्था (लोकतन्त्र) का भी मूल उददे्श्य जनता (प्रजा) कल्याण ही है। आज राजधर्म (शासक कर्तव्य) को संकुचित

विचार–धारा में बांधने का प्रयास हो रहा है। अनेकानेक राजनेता अपनी जिम्मेदारी निभाने को तैयार नही वे एक–दूसरे में छिद्रान्वेषण करने में लगे रहते हैं। शान्तिपर्व में वर्णित शासन व्यवस्था का स्वरूप यद्यपि राजतंत्रात्मक था, परन्तु शासन तन्त्र का प्रत्येक व्यक्ति

यहां तक कि राजा भी निरंकुश नहीं था। प्रत्येक का अपना उत्तरदायित्व निश्चित था और वह स्वयं इन जिम्मेदारियों का निर्वाहक था। जनता (प्रजा) भी अपने राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों के अनुपालन में मनसा, वाचा, कर्मणा लगी रहती थी। शांतिपर्व के 'राजधर्म' राज तन्त्र होकर भी शासन के निर्णयों में लोकतन्त्रात्मक स्वरूप की सुगन्ध आती थी शासन केन्द्रित था लेकिन शासन का क्रियान्वयन विकेन्द्रित रूप में दिखाई देता है। लेकिन आज लोकत्रन्त्रात्मक व्यवस्था में शासन का स्वरूप विकेन्द्रित है। कभी–कभी यह केन्द्रित व्यवस्था की ओर भी अग्रे ित दिखता है। इस शासन में वोट की राजनीति करने वाले इसे संख्या वाद पर तौलते है। इस व्यवस्था के मूल तत्व को ही भूल जाते है आज जनहित के कार्य हो या न हो अपने हित के कार्य को महत्व दिया जाता है। इसलिए आज शान्तिपर्व के राजधर्म के अनुपालन की अत्यधिक आवश्यकता है।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. महाभारत आदि पर्व 62/53
2. प्रोफेसर द्वारकादासः महाभारत का अर्थः वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर।
3. महाभारत शांति पर्व 56/2
4. महाभारत शांति पर्व 56/3
5. शांति पर्व 56/3
6. शांति पर्व 56/14
7. शांति पर्व 56/15
8. शांति पर्व 56/16
9. शांति पर्व 56/17
10. शांति पर्व 56/20, 21
11. शांति पर्व 56/40
12. शांति पर्व 56/44, 45, 46
13. शांति पर्व 91/13
14. शांति पर्व 91/32–40
15. शान्तिपर्व 57/115